1 आपके मार्गदर्शक कौन हैं?

संजय जोठे

मौलिक चिंतन या ज्ञान या इन दोनों की साझी सम्भावनाओं का प्रश्न जितना भारत के लिए अहम है, उससे भी ज़्यादा भारत के दलितों, बहुजनों और स्त्रियों के लिए है। एक बीमार कर देने वाली असमानता भरी जीवन-व्यवस्था को जन्म देने वाली संस्कृति का सटीक मूल्यांकन सामान्य व्यक्तियों के जीवन के आधार पर नहीं बल्कि शोषण के दंश से घायल व्यक्तियों के जीवन के आधार पर होगा। अस्पताल का मूल्यांकन एक स्वस्थ व्यक्ति के स्वास्थ्य से नहीं बल्कि बलात् कुपोषित रखे गये व्यक्ति के स्वास्थ्य के आधार पर होना चाहिए। इस अर्थ में भारत की आँख में झाँकना और बहुजन भारत की आँख में झाँकना अलग-अलग बातें हैं। बहुजन भारत की आँख में झाँकने का आग्रह करते हुए यह टिप्पणी भारतीय मनीषा की 'ज्ञान सृजन की क्षमता' सहित 'चिंतन की मौलिकता' के होने या न होने के प्रश्न को दलितों-बहुजनों की सामाजिक राजनीतिक दशा को उजागर करने वाले आम्बेडकर के नज़रिये से देखना चाहती है।

प्रतिमान ने अपने पहले अंक में इस आवश्यकता को 'भारत के ज्ञान और चिंतन की मौलिकता' के प्रश्न के रूप में उठाया है और इसी से संबंधित लेखों के आईने में अपनी सम्भावित सफलता-विफलता के आकलन का प्रयास और आग्रह भी किया है।

पहले अंक के सम्पादकीय में जिन आवश्यकताओं और अंतरालों को रेखांकित किया गया है, उन्हें एक बार नोट करना आवश्यक है ताकि अगली पंक्तियों के विषय, आशय और दिशा को समझा जा सके। 'हमारे मगध की मौलिकता में कोई कमी है क्या?' इस सम्पादकीय में *प्रतिमान* अपने घोषित उद्देश्यों को जिन समस्याओं के समाधान की भाँति चित्रित करता है वे निम्नानुसार हैं :

1. हिंदी और अन्य भारतीय भाषाओं में ज्ञान-सृजन की क्षमता होने के बावजूद यह मौलिकता 'अपने आप में डूबी हुई एक क़िस्म की स्वयम्भू ख़्यालगोई में फँसी हुई है।' इसमें यह भी संकेत हैं कि रचनाकारों के पास विमर्श का फ्रेमवर्क खड़ा करने का उद्यम और कौशल नहीं है।

2. एक महत्त्वपूर्ण समस्या जो यहाँ दर्शाई गयी है वह प्रत्यक्षवाद द्वारा उठाई गयी उस दीवार के बारे में है जिसने कम से कम भारत में विचार-विमर्श की परम्परा को संस्थागत ढाँचों में बाँट रखा है और साथ ही विज्ञान और मानविकी के

बँटवारे से परे चिंतन की समग्र और एकीकृत प्रणाली का अभाव है।

3. वैकल्पिक ज्ञानमीमांसा की दावेदारी अधिकतर मौक़ों पर अंग्रेज़ी के दायरे का अतिक्रमण करके भारतीय भाषाओं की ज़मीन स्पर्श करने से पहले ही ठिठक जाती है।

4. अगर विचारों का स्वराज हासिल करना है तो ज्ञान-रचना को मुट्ठी-भर अंग्रेज़ीदाँ समाज-वैज्ञानिकों, इतिहासकारों और दार्शनिकों के संकुचित दायरे से निकालना होगा।

5. अंत में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण संकेत यह किया गया है कि '*प्रतिमान* की शुरुआत के ऐतिहासिक क्षण पर हम केवल यह कहने की स्थिति में हैं कि ज्ञान-रचना के मौजूदा मानचित्र को जिस ज्ञानमीमांसा और संज्ञानात्मकता की रेखाओं से बनाया गया है, वह पूर्व-निर्धारित अर्थों और तात्पर्यों की दिक् और काल से परे समझी जाने वाली स्याही से खींची गयी है।' इसमें एक नये प्रमाणशास्त्र के उभरने की आशा भी की गयी है।

इन पाँच केंद्रीय बिंदुओं के आधार पर *प्रतिमान* के वर्तमान स्वरूप का आकलन किया जाना मुझे उचित लगता है। इसी के आलोक में दलित-दृष्टि से प्रथम अंक के मार्गदर्शक लेखों और उनके विमर्श की दिशा के मूल्यांकन का मैंने प्रयास किया है। ये पाँच बिंदु अमूर्त सैद्धांतिक मार्गदर्शकों की तरह तो ठीक हैं लेकिन लेखन या शोध के अर्थ में किस तरह से 'ओपेरेशनलाइज़' होते हैं— यह स्पष्ट करना बड़ा मुश्किल है। यह सबसे अहम बात है। इस अस्पष्टता को ठीक से परिभाषित करते हुए इसके निदान और उपचार

पत्रिका अरविंद और गाँधी के रूप में जो मार्गदर्शक चुनती है वे स्वयं एक स्वर्णयुग से सम्मोहित हुए बैठे हैं और अतीत से यह सम्मोहन भविष्य के ज्ञान-सृजन के लिए एक बड़ी समस्या बनकर उभर सकता है। ... लगता है कि पत्रिका जिस समस्या को सुलझाना चाहती है भूल से उसी समस्या के सर्जकों का महिमामण्डन भी कर रही है।

का सम्भावित रोडमैप बनाना *प्रतिमान* की सबसे बड़ी सफलता होगी। इस लेख के हित में यह कहा जा सकता है कि यह समस्या भारतीय ज्ञान द्वारा ख़ुद के स्वाभाविक ढंग से नवीकरण न कर पाने की अक्षमता में साफ़ नज़र आती है।

भारतीय भाषाओं में ज्ञान-सृजन अनुसंधान या ज्ञान के नवीकरण के न होने का अर्थ दो ढंगों से लिया जा सकता है। एक यह कि हमारे पास कुछ मौलिक है जो इस सदी का है लेकिन नवीनीकृत नहीं हो पा रहा है। दूसरा अर्थ यह है कि हमारे पास कुछ मौलिक है ही नहीं जो इस सदी का हो इसीलिए वह नवीनीकृत नहीं हो पा रहा है। मुझे पहला अर्थ ग़लत और दूसरा अर्थ सही लगता है। कारण भी स्पष्ट है कि जो ज्ञान मौलिक है या समसामयिक है वह सृजन-क्षम होगा ही, वह स्वयं को नवीकृत और रीप्रोड्यूस करेगा ही। अगर वह नहीं कर पा रहा है तो उसे मौलिक ज्ञान नहीं माना जा सकता। नवीकरण में अक्षम और बधिया ज्ञान वही हो सकता है जो स्वयं अपने स्वाभाविक माता-पिता से न आया हो, और जिसे कृत्रिम तरीक़े से कृत्रिम

आवश्यकताओं ने जन्म दिया हो। भारत का दार्शनिक, सामाजिक और साहित्यिक विमर्श इस अर्थ में अपने नवीकरण की अक्षमता पर प्रश्न उठाते हुए अपनी मौलिकता को ख़ुद कठघरे में खड़ा कर लेता है। इसी समस्या के निदान और उपचार के लिए *प्रतिमान* और भारतीय भाषा कार्यक्रम जैसे प्रयास आवश्यक हैं, और इसी आवश्यकता की पूर्ति के होने या न होने में ही स्वयं *प्रतिमान* की सफलता या विफलता छुपी है। पत्रिका ने 'स्वयं अपने लिए जो प्रतिमान' तय करते हुए जिन महत्त्वपूर्ण दार्शनिक लेखों का चुनाव किया है उन्हीं के विश्लेषण और तुलना के ज़रिये मैं प्रतिमान को आम्बेडकरवादी दृष्टि से देखना और दिखाना चाहूँगा।

'नये विचार फ़ैशन की तरह ग्रहण किये जा रहे हैं'— पहले ही अंक में दार्शनिक कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य की यह टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है। उसके आईने में भारत-विमर्श और विशेष रूप से भारतीयता के विमर्श को पकड़ा जा सकता है। यह एक विशेष तरह के अंतराल की तरफ़ इशारा करता है— वह अंतराल जो भारतीयों ने अपने बीच में पैदा किया है और वह अंतराल भी जो उन्होंने अपने इतिहास और वर्तमान से पैदा किया है। ऐसे में भारत एक खण्डित इकाई के रूप में यूरोप द्वारा उपलब्ध की गयी श्रेष्ठताओं की तरफ़ आगे बढ़ता है तो उसका यही खण्डित अस्तित्व उसकी यात्रा को कठिन बना देता है। जैसे एक पैर चलने को तैयार हो, और दूसरा पैर चल ही न सके।

ज्ञान-सृजन ही नहीं, बल्कि ज्ञान के प्रबंधन के संदर्भ में भी देखा जाए तो भारत में ज्ञान के विषयों को अपारगम्य दीवारों में क़ैद करते रहना एक अन्य प्राचीन समस्या रही है जिसने अंतरानुशासनीयता सहित स्वयं विषय के अनुशासन को भी बर्बाद किया है। परिणामस्वरूप मौलिक चिंतन और ज्ञान के सृजन की सम्भावनाएँ क्षीण होती गयी हैं। *प्रतिमान* इस अर्थ में अरविंद घोष के लेख के ज़रिये बात करता है। यहाँ समस्या यह है कि घोष इस बात को उठाते ज़रूर हैं लेकिन उनका स्वयं का पूरा करियर वेदों-उपनिषदों से अपने कर्तृत्व के प्रमाण खोजते हुए आरम्भ होता है और अपनी नवीन स्थापनाओं को वेद-वेदांत में प्रक्षेपित करने पर ख़त्म होता नज़र आता है। इस एक उदाहरण से स्वयं अरविंद घोष के आईने में आज़ादी के पश्चात् उभर रहे सांस्कृतिक-दार्शनिक और सामाजिक विमर्श की दिशा और सीमा का अंदाज़ा होने लगता है। ये सीमाएँ असल में प्राचीन विवशताओं के गर्भ से जन्म पाती रही हैं जिनका विश्लेषण तो अरविंद सहित अन्य मनीषियों ने किया है लेकिन उसका उपचार नहीं कर सके हैं। उपचार की कमी की उसी पृष्ठभूमि में *प्रतिमान* और भारतीय भाषा कार्यक्रम अपनी विशिष्टता, आवश्यकता और वैधता की सही घोषणा कर पा रहा है। लेकिन, यहाँ आकर ऐसा लगता है कि पत्रिका जिस समस्या को सुलझाना चाहती है भूल से उसी समस्या के सर्जकों का महिमामण्डन भी कर रही है।

एक बिंदु पर कृष्ण चंद्र भट्टाचार्य एक टिप्पणी करते हैं कि 'हमें मुट्ठी भर अंग्रेज़ीदाँ इतिहासकारों, दार्शनिकों के दायरे से बाहर निकलना होगा।' यह एक अच्छा सुझाव होते हुए भी जोखिम भरा आग्रह हो सकता है। दलित और शूद्र विमर्शों में अभी भी पश्चिमी ज्ञान और विमर्श को सीखने की आवश्यकता बनी हुई है। भारत का सवर्ण वर्ग भारतीय चिंतन की खोज करते हुए कहीं पुनः वेद-वेदांत में ही न फँस जाए— यह डर आजकल बढ़ा है और इसीलिए सवर्ण चिंतन से भी भय निर्मित हुआ है। ऐसे में अंग्रेज़ीदाँ समाज-वैज्ञानिकों की विशेषज्ञता से बाहर निकलने के आग्रह का क्या अर्थ हो सकता है, इसे समझना ज़रूरी है। अगर यह सवर्णों द्वारा औपनिवेशिक काल में यूरोपियन विद्वानों को दी गयी सूचनाओं से जन्मे ज्ञान के दायरे से बाहर निकलने का आग्रह है या फिर ज़मीन से जुड़े देशज ज्ञान से कटे हुए अभिजात्य वर्ग के आभामण्डल से बाहर निकलने का आग्रह है? हालाँकि ये दोनों बातें एक जैसी ही हैं, फिर भी भविष्य में इनकी दिशा अलग-अलग हो सकती है। देशज ज्ञान के देशज भाषाओं में सृजन की

सम्भावना को नकारने वाली अभिजात्य मनीषा के संकुचित दायरे से बाहर निकलने के आग्रह में उपरोक्त दोनों आग्रह शामिल हैं; और इसका सरल भाषा में अर्थ यह बनता है कि ऐसी मनीषा जो यूरोपीय ज्ञान से बहुत ज़्यादा प्रभावित है और ऐसी मनीषा जो देशज ज्ञान से घृणा करती है— इन दोनों से एकसाथ मुक्ति ज़रूरी है। इस समस्या का कारण अगली पंक्तियों में स्वयं भट्टाचार्य ही बताते हैं— 'ज्ञान के लोकतंत्रीकरण की अनुपस्थिति' जो कि ज्ञात इतिहास में भारत का मूल चरित्र रहा है। साथ ही भद्रजनों और अभिजात्यों की भाषा— संस्कृत, अरबी फ़ारसी या आजकल इंग्लिश— की दासता का भी बड़ा योगदान इसमें है, यह बात स्पष्टता से उभारती है।

एक अन्य नज़र से देखें तो अपनी आवश्यकता को परिभाषित करती हुई भट्टाचार्य की यह निष्पत्ति अपने आशय में जितनी स्पष्ट है, अपने लक्ष्य को हासिल करने के सम्भावित रोडमैप को परिभाषित करने में उतनी ही अक्षम भी नज़र आती है। यह भारतीय विमर्श की मौलिकता को खोजने या दर्शाने की राह में आ रही विवशता है। इससे कहीं आगे बढ़ कर यह दलितों-बहुजनों की मुक्ति की राह में रचे जा रहे विमर्श की आंतरिक समस्याओं का भी स्पष्ट संकेत देती है। इस नज़रिये से अपने विचारों का स्वराज हासिल करने की सलाह का भारत और भारत के दलितों के लिए जो अर्थ है— वह पूरी तरह एक ही अर्थ नहीं है। और अगर आम्बेडकरवादी नज़रिये से देखा जाए तो यह प्रतीति *प्रतिमान* के घोषित लक्ष्यों के संधान के लिए एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दृष्टि की तरह उभरती है।

गाँधी के *हिंद स्वराज* में इस प्रश्न और इसके सम्भावित उत्तर का विस्तार खोजते हुए जो चर्चा मिलती है वह पुन: निराश करती है। गाँधी की इस रचना में 'दिव्य और दैवीय' का स्पष्ट आग्रह है। यह ऐसी अपरिभाषित और सब्जेक्टिव चर्चा है जिसे सामाजिक-राजनीतिक रोडमैप की भाषा में नहीं रखा जा सकता। इतिहास ने स्पष्ट कर दिया है कि ये आग्रह कितने ख़तरनाक साबित हुए हैं और वर्तमान राजनीतिक सत्ता ऐसे आग्रहों को कैसे इस्तेमाल कर पा रही है। गाँधी और उनके *हिंद स्वराज* में आत्मज्ञान, षड्रिपुओं से मुक्ति, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि की चर्चा बार-बार आती है। अब सवाल है कि क्या यह संस्कृति और समाज के विमर्श से अनिवार्य रूप से कहीं जुड़ता है? या जिन्होंने जोड़ा है उन्होंने इन शब्दों के माहात्म्य के साथ मनुष्य के भौतिक और मनोवैज्ञानिक जीवन के साथ कैसा व्यवहार किया है? इस संदर्भ में गाँधी के गुरु श्रीमद-राजचंद्र की तस्वीर-भर देखकर काफ़ी अंदाज़ा होता है।

इसी लेख में बार बार स्पष्ट होता है कि *हिंद स्वराज* का पूरा विमर्श आधुनिकता का विरोध 'बाह्य-खोज' के विरोध और आत्मज्ञान के महिमामण्डन के आधारों पर कर रहा है। इसे सावधानी से देखें तो यह आधार ही वह मूल समस्या है जिसे पत्रिका अपने पहले अंक के सम्पादकीय में उठा रही है। उस सम्पादकीय में जिन समस्याओं की तरफ़ इशारा है उन चिंताओं का साकार रूप और मूल स्रोत अरविंद और गाँधी के आग्रहों में ही नज़र आता है। *प्रतिमान* पत्रिका अरविंद और गाँधी के रूप में जो मार्गदर्शक चुनती है वे स्वयं एक स्वर्णयुग से सम्मोहित हुए बैठे हैं और अतीत से यह सम्मोहन भविष्य के ज्ञान-सृजन के लिए एक बड़ी समस्या बनकर उभर सकता है। इसे स्पष्ट करने के लिए गाँधी के दो वक्तव्य दिये जा सकते हैं : 'यदि हम अपने आपको नहीं पहचान पाए तो व्यवस्था को नहीं सुधार सकते हैं। कारण, 'सुधार ऐसे आचरण को कहते हैं, जिसमें मानुस अपना फ़र्ज़ निभाए। फ़र्ज़ निभाने का अर्थ है नीति-पालन। नीति-पालन का अर्थ है अपने मन-इंद्रियों को वश में रखना और ऐसा करते हुए हम स्वयं को पहचानते हों, यही 'सु' यानी सच्ची धारा है। इसके जो विपरीत है, वह 'कुधार' है। यदि हम स्वयं गुलामी से मुक्त हो जाएँ तो समझो हिंदुस्तान की गुलामी गयी।... डूबता हुआ दूसरे को नहीं बचा सकता, लेकिन तैराक दूसरे को पार लगा सकता

है। हम स्वयं गुलाम हों और दूसरों को मुक्त कराने की बात करें, इससे बात नहीं बनती।' यह अपने षड्-रिपुओं की गुलामी से मुक्त होने का आग्रह है। समाजशास्त्र या राजनीतिशास्त्र की ठोस ज़मीन पर नहीं, बल्कि कहीं आसमानी आयाम से आया हुआ एक भयानक वक्तव्य है। यह एक प्रतिगामी और अव्यवहारिक जीवन-दृष्टि है। इस निष्पत्ति को इस अर्थ में *प्रतिमान* द्वारा महत्त्व दिया जाना उचित प्रतीत नहीं होता। यह *प्रतिमान* द्वारा अपने लिए स्थापित मूल्यों के विरोध में जाने जैसी बात है।

तीसरे अंक में *कम्युनिस्ट मेनिफ़ेस्टो* और *हिंद स्वराज* की तुलना की गयी है। याक बाजुन ने दुनिया भर के महानतम यूटोपियन चिंतन में गाँधी और *हिंद स्वराज* नहीं रखा है— इस बात पर चिंता व्यक्त की गयी है। हिंद *स्वराज* और गाँधी द्वारा अस्पतालों और रेल के स्वाभाविक नाश की कामना की गयी है, और संसदीय व्यवस्था को वेश्या पद देते हुए अंततः भारत को एक ऐसी सभ्यता और संस्कृति में बदलने का स्वप्न देखा गया है जिसमें आध्यात्मिक मुक्ति अभिप्रेत है। *प्रतिमान* के तीसरे अंक में गाँधी और गाँधीवाद द्वारा ली गयी इस मुद्रा की प्रशंसा है जो निश्चित ही परेशान करने वाली है। इतनी सब्जेक्टिव धारणाओं पर जो राजनीति या राष्ट्र खड़ा होगा उसकी दिशा और दशा का कोई आश्वासन नहीं दिया जा सकता।

दार्शनिक, योगी और मूलतः कवि श्री अरविंद को भी *प्रतिमान* ने अत्यधिक महत्त्व दिया है। उनके चुने हुए लेख में एक वक्तव्य आता है, '... इसलिए तामसी व्यक्तियों और तामसी स्थितियों वाले समाजों द्वारा विचार की स्वतंत्रता हतोत्साहित करने की कोशिश की जाती है।' इस एक वक्तव्य में यह स्पष्ट नज़र आता है कि यह वक्तव्य और यह व्यक्ति कितना पूर्वग्रह से भरा हुआ है। यहाँ पूछा जा सकता है कि तामसी लोग हतोत्साहित करते हैं, या हतोत्साहित करने वाले लोग तामसी होते हैं? यह असल में 'स्वर्णयुग से सम्मोहित' मानसिकता का वक्तव्य है। ये भविष्य की तरफ़ जाने वाले प्रवाह का मूल्यांकन किन्हीं प्राचीन और 'सिद्ध या स्वानुभूत' तरीक़ों से करने के आग्रही हैं। आगे अरविंद कहते हैं कि 'हमने सिर्फ़ एक क्षेत्र अर्थात् निजी आध्यात्मिक अनुभव के दायरे में प्राचीन काल की उस स्वाधीनता और मौलिकता को क़ायम करने की इच्छा प्रदर्शित की है।' यहाँ सवाल उठता है कि इतने अस्पष्ट और सब्जेक्टिव आधार पर अगर स्वाधीनता और मौलिकता क़ायम रहेगी तो उसका मानकीकरण करना और उसे समावेशी बनाना कैसे सम्भव है? फिर वे आगे और लिखते हैं, 'जो भारतीय बौद्धिकता किसी ज़माने में दुनिया पर सर्वाधिक विराट और मौलिक थी उसे इसी तरह दासता के कारण लगातार क्षयग्रस्त होना पड़ा।' यहाँ अरविंद फिर दुर्लक्ष्य करते हैं।

दासता के कारण मौलिकता नष्ट नहीं हुई बल्कि मौलिकता के नष्ट होने के कारण दासता आयी है। अरविंद के इस विरोधाभासी विलाप में आधुनिक राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की भी विफलता छुपी हुई है, और अगर अरविंद का यह आग्रह *प्रतिमान* के लिए महत्त्वपूर्ण बना रहता है तो यह पत्रिका स्वयं अपने प्रयासों के दार्शनिक अंतर्विरोधों से कमज़ोर होगी।

इतिहास का विमर्श साफ़ बताता है कि दासता के कारण मौलिकता नष्ट नहीं हुई बल्कि मौलिकता के नष्ट होने के कारण दासता आयी है। अरविंद के इस वक्तव्य के विरोधाभासी विलाप में आधुनिक राष्ट्रवाद या सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की भी विफलता छुपी हुई है, और अगर अरविंद का यह आग्रह *प्रतिमान* के लिए महत्त्वपूर्ण बना रहता है तो यह पत्रिका स्वयं अपने प्रयासों के दार्शनिक अंतर्विरोधों से कमज़ोर होगी।

एक अन्य स्थल पर अरविंद कहते हैं, 'किसी को सफलतापूर्वक अस्वीकार तभी किया जा सकता है जब हम अपनी इच्छित वस्तु को अपने पास रखने की योग्यता से सम्पन्न हों।' इस एक वक्तव्य में अरविंद सहित भारत का सारा 'यथास्थितिवादी' सृजनकर्म समाहित है। यहाँ

स्पष्ट है कि वे ऐसा कुछ जानने का दावा कर रहे हैं जो पहले से ही श्रेष्ठ सिद्ध किया जा चुका है। यह ज्ञान असल में ज्ञान-सृजन की स्वाभाविक और मौलिक प्रक्रिया के अनिवार्य परिणाम के रूप में नहीं आने वाला, बल्कि उस प्रक्रिया के आरम्भ होने से पहले ही एक दिव्य इलहाम के रूप में मौजूद है। यही 'ऊर्ध्वमूल अश्वत्थ' की सनातन विवशता है, जहाँ ज्ञान को विकास के रूप में नहीं बल्कि पतन के रूप में देखा जाता है। इसी ने भारत की दुर्दशा की है। अगर अरविंद

जुगाड़ और हर खण्ड के लिए अलग-अलग चिंतन सहित स्वयं चिंतन और सृजन के खण्डित हो जाने का मूल कारण समझ में आ जाता है। इसे पाखण्ड कहा जा सकता है। यही भारतीय सृजनशीलता का सबसे बड़ा दुश्मन है। यही प्रतिमान के मार्ग में या ज्ञान सृजन के मार्ग में आने वाली एक सबसे बड़ी समस्या हो सकती है।

की यह उपमा *प्रतिमान* के लिए मूल्यवान है तो हमें इस पर पुनर्विचार करना होगा। आगे बढ़ते हुए जब वे कहते हैं, 'न तो हम पूरी तरह ख़त्म हो रहे हैं, न ही अपना अस्तित्व बनाए रखने में समर्थ हैं ... मेधावी होने का दिखावा करते हुए अनुकृति कर पाते हैं।' इस वक्तव्य में अरविंद भारत की ऐतिहासिक अनुर्वरता को सीधे निशाने पर लेते हैं, लेकिन ऐसा करते हुए उनकी अपनी प्रस्थापनाएँ भी निशाने पर आती हैं, लेकिन इसे स्वीकार नहीं किया जाता है। यही 'अरविंद-पश्चात्' भारत की समस्या है। इसे *प्रतिमान* खुद अपनी समस्या न बना ले, इसकी सावधानी रखनी होगी।

कृष्णचंद्र भट्टाचार्य की दृष्टि इस अर्थ में *प्रतिमान* के घोषित लक्ष्यों के अधिक क़रीब आती है। 'पश्चिमी संस्कृति ने हमारे बारे में जो फ़ैसले कर लिए हैं हम या तो उन्हें स्वीकारते हैं या दोहराते हैं, कई बार एक नपुंसक क़िस्म का असंतोष भी जताया जाता है। लेकिन हमारे पास अपनी कोई समझ नहीं है जो हमारी अपनी हक़ीक़त के निचोड़ पर आधारित हो।' इस वक्तव्य में भट्टाचार्य वह सब कह देते हैं जो पत्रिका की चिंता और चिंतन के केंद्र में है। वहीं जब भट्टाचार्य कहते हैं कि 'सामाजिक सुधार के क्षेत्र में भी हमने अपनी पारम्परिक सामाजिक संरचना के अंतर्मुखी सार को समझने की कोशिश नहीं की।' यह कहते हुए वे भारतीय समाज की तथाकथित आध्यात्मिकता और रहस्यवाद से जन्मे सम्मोहन और मनोविज्ञान को समाजशास्त्रीय आधार तक घसीट लाते हैं। यह एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है।

एक अन्य विचारक ए.के. रामानुजन को भी पहले अंक के लिए चुना गया है। रामानुजन मनु की स्थापनाओं पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि 'इस विशिष्टतावाद में कोई व्यवस्था है क्या? ऐसा लगता है कि भारतीय दार्शनिक हीगेल या कांट की तरह 'सर्व्यव्यापी' व्यवस्थाएँ नहीं देते।' यह टिप्पणी सच में महत्त्वपूर्ण है, यहाँ जुगाड़ और हर खण्ड के लिए अलग-अलग चिंतन सहित स्वयं चिंतन और सृजन के खण्डित हो जाने का मूल कारण समझ में आ जाता है। इसे पाखण्ड कहा जा सकता है। यही भारतीय सृजनशीलता का सबसे बड़ा दुश्मन है। यही *प्रतिमान* के मार्ग में या ज्ञान सृजन के मार्ग में आने वाली एक सबसे बड़ी समस्या हो सकती है।

रामानुजन की एक अन्य टिप्पणी 'ग्रंथ गोया कह रहे हों, अगर तुम किसी संदर्भ या दशा में फ़िट नहीं हो रहे, जो निहायत असम्भाव्य है, तो सार्विक की शरण में जाओ।' इसका साफ़ अर्थ है कि जिस तरह वर्णाश्रम, स्वधर्म, आपद धर्म आदि की श्रेणी में 'कास्टमाइज़्ड' और विशिष्टतावादी आचरण का आग्रह छुपा हुआ है, वही भारत के ज्ञान-सृजन को भी कुंद और कलुषित करता है।

इस टिप्पणी के साथ प्रतिमान को आम्बेडकरवादी चश्मे से देखने और दिखाने के प्रयास का शिखर भी आ जाता है।

2 वैश्विक, भारतीय, प्रामाणिक और संवादप्रिय

अक्षय मुकुल

मुझे अपनी बात यह क़बूल करते हुए शुरू करनी चाहिए कि मैं *प्रतिमान* की मौजूदगी से पिछले चार सालों से वाक़िफ़ हूँ। लेकिन मैंने अभी तक उसका केवल एक अंक पढ़ा है। हालाँकि चार साल की अवधि बहुत बड़ी नहीं होती, पर मुझे इस बात का एहसास है कि *प्रतिमान* ने इस दौरान अपने लिए एक ख़ास जगह बना ली है। मैं *प्रतिमान* के पाँचवें अंक (जनवरी–जून, 2015) की बात कर रहा हूँ : लगभग तीन सौ चालीस पृष्ठों में फैली सामग्री का स्तर और गहराई देखकर मैं ठगा सा रह गया। अंक उलट-पुलट कर देखा तो ज़ेहन में एक होड़ सी मच गयी कि पहले गरिमा श्रीवास्तव का अपनी प्रिय कवयित्री माया ऐंजेलो की स्मृति को समर्पित लेख पढ़ूँ या आदित्य निगम द्वारा लब्धप्रतिष्ठ समाज-विज्ञानी एम.एस.एस. पांडियन की स्मृति में लिखे गये श्रद्धांजलि लेख से शुरुआत करूँ! मैं आदित्य के लेख की इन शुरुआती सतरों को पढ़ते ही सन्न रह गया कि पांडियन भारतीय समाज-विज्ञान के कुंदनलाल सहगल और सआदत हसन मंटो थे।

मैंने पांडियन के बारे में इतने मार्के की टिप्पणी कहीं नहीं पढ़ीं। पांडियन को इस नफ़ासत और शिद्दत के साथ तो उन लोगों ने भी याद नहीं किया जो उनके दोस्त और शुभेच्छु होने का दावा करते थे। आदित्य ने इन दो पृष्ठों में पांडियन के नवोन्मेषी कृतित्व लेकिन मितभाषी व्यक्तित्व का ऐसा सुगढ़ परिचय दिया कि थोड़ी देर के लिए माया ऐंजेलो मेरे ज़ेहन से ग़ायब ही हो गयीं। अफ़्रीकी-अमेरिकी मूल की इस विद्रोही कवयित्री पर गरिमा श्रीवास्तव का श्रद्धांजलि लेख तथा ऐंजेलो की कविताओं का बेजोड़ अनुवाद पढ़ने के बाद मुझे लगा कि इस *प्रतिमान* का कोई दूसरा विकल्प असम्भव है।

मेरे एक विद्वान मित्र *प्रतिमान* को हिंदी का *इकॉनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* बताते हैं। लेकिन मैं उनकी राय से इत्तेफ़ाक़ नहीं रखता। और, मेरी राय उनसे इसलिए अलग नहीं है कि मुझे *प्रतिमान* की पाँच दशक पुराने *ईपीडब्ल्यू* से तुलना करना अनुचित लगता है। दरअसल, मेरी नज़र में *प्रतिमान* *ईपीडब्ल्यू* से एक क़दम आगे है! मैं यह इस आधार पर कह रहा हूँ क्योंकि *प्रतिमान* न केवल *ईपीडब्ल्यू* के कड़े मानकों के समकक्ष ठहरता है, बल्कि उसने अपने इब्तिदाई दौर में ही एक ख़ास रास्ता चुन लिया है। *प्रतिमान* के अब तक प्रकाशित नौ अंकों से यह ज़ाहिर हो जाता है कि वह किसी एक विचारधारा या समाज-विज्ञान की किसी एक पीठ का प्रवक्ता नहीं है। उसके वैचारिक वितान का बुनियादी मूल्य इस उदारतावादी यक़ीन से अनुप्राणित है कि विचारों की दुनिया में किसी क़िस्म की पहरेदारी नहीं होनी चाहिए। यही वजह है कि *प्रतिमान* के एक ही अंक में आप हिंदुत्व के अलग-अलग चेहरे देख सकते हैं; दक्षिणपंथी विद्वान राजीव मल्होत्रा की पड़ताल कर सकते हैं तो साथ ही मराठी के विख्यात साहित्यकार भालचंद्र नेमाडे की रचना-प्रक्रिया तथा हिंदू संस्कृति के प्रति उनकी समझ का भी जायज़ा ले सकते हैं। इसी तरह, एक अन्य अंक में बर्नार्ड कोह्न और डी.डी. कोसम्बी को आजू-बाजू बैठे देख सकते हैं; किसी अंक में सिमोना साहनी संस्कृत के मूर्धन्य विद्वान राधावल्लभ त्रिपाठी से सौजन्यपूर्ण संवाद करती दिखाई देती हैं तो किन्हीं अंकों में अज्ञेय और नंद दुलारे वाजपेयी के रचनात्मक मूल्यांकन से रूबरू हुआ जा सकता है। कभी-कभी *प्रतिमान* के एक ही अंक में शर्मिला रेगे के साथ स्टुअर्ट मैक्ग्रेगर की स्मृति होती है, तो लघु पत्रिका आंदोलन के आकलन के साथ ओमप्रकाश वाल्मीकि का स्मरण भी आपका इंतज़ार करता मिलता है। हाँ, *प्रतिमान* उन पाठकों से परहेज़ करता है जो केवल अपने

गाँव-क़स्बे और छोटे शहरों की दुनिया में ही रमे रहना चाहते हैं।

प्रतिमान का नज़रिया दुनिया के सर्वोत्तम कहे जाने वाले किसी भी जर्नल जितना ही वैश्विक है। सच तो यह है यहाँ दुनिया के उन प्रतिष्ठित विद्वानों का भी तआरुफ़ कराया जाता है जिनके बारे में हिंदी के पाठक केवल अपने अंग्रेज़ीदाँ बिरादरों से ही कुछ सुन पाते हैं। और, यह फ़ेहरिस्त यहीं ख़त्म नहीं हो जाती। *प्रतिमान* के पृष्ठों पर दुनिया के इन आला विद्वानों के वैचारिक अवदान का बेलाग आकलन किया जाता है। कई दफ़ा तो यह विवेचक दृष्टि इतनी बेधक होती है कि कई विद्वानों का प्रभामण्डल ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। *प्रतिमान* किसी भी थियरी या विद्वान का दैवीकरण नहीं करता। इसलिए यहाँ विद्वानों की एक नयी पाँत देखी जा सकती है। इस पाँत में रविकांत, अवधेंद्र शरण और राकेश पाण्डेय जैसे कई नाम हैं जो अपनी दृष्टि और प्रस्थापनाओं की नवीनता के कारण बार-बार ध्यान खींचते हैं।

सिनेमा और भाषा पर काम करने वाले विद्वानों में रविकांत शायद समकालीन समय के सबसे अनूठे विद्वान हैं। बर्कले हो या बनारस— रविकांत दोनों जगह समभाव से विचरण करते हैं। अवधेंद्र शरण का लेखन हमें इस ज़रूरी तथ्य से परिचित कराता है कि भारत के शहरों का पर्यावरण-संकट केवल आजकल की बात नहीं बल्कि उसका एक मुक़म्मल इतिहास है जिसकी हमारे कथित योजनाकार लगातार अनदेखी करते रहे हैं। अतीत और समकालीन के संधि-स्थलों की पड़ताल करने के क्रम में अवधेंद्र हमें इशारतन आगाह करते हैं कि हम शहर की समस्याओं का निदान ग़लत जगह ढूँढ़ रहे हैं।

इस कड़ी में तीसरी शख़्सियत राकेश पाण्डेय की है। राकेश स्थानीय/जनपदीय भाषा और संस्कृति संबंधी लेखन के ज़रिये लगातार उस उर्वर क्षेत्र का संधान कर रहे हैं जिसे मौजूदा बौद्धिक विमर्श अपने रजिस्टर में दर्ज करने से कतराता रहा है।

लेकिन सरोकारों के मामले में *प्रतिमान* उड़न-छू रवैया नहीं अपनाता। उसमें कुछ मुद्दे और चिंताएँ स्थायी स्वर की तरह रहती हैं। समाजशास्त्र, पारिस्थितिकी और शहरी भारत के इतिहास के विषय में शायद ही कोई और जर्नल है जो *प्रतिमान* के मुक़ाबले ज़्यादा प्रामाणिक बात करता है। इसी तरह, मीडिया, जेण्डर, राजनीति और भाषा के नित बदलते विमर्श की नक़्शानिगारी के मामले में भी *प्रतिमान* ने एक ऊँचा मानक स्थापित किया है। अगर पीठ के संस्थापक रजनी कोठारी आज ज़िंदा होते तो इस नये बनते भारत का इतिहास दर्ज कर रहे इस जर्नल पर फ़ख़्र महसूस करते!

प्रतिमान में संस्कृति एक स्थायी तत्त्व है। लेकिन, उसकी संस्कृति भारतीयता, भारत के समृद्ध अतीत, विविधताओं और संवाद-प्रियता की संस्कृति है। यह वही संस्कृति है जिससे एक विशेष विचारधारा के अनुयायी बैर रखते हैं और इस जुगत में लगे रहते हैं कि इस संस्कृति का चेहरा लोगों के सामने न आये। *प्रतिमान* की

मेरी नज़र में *प्रतिमान* ईपीडब्ल्यू से एक क़दम आगे है! ... अब तक प्रकाशित नौ अंकों से यह ज़ाहिर हो जाता है कि वह किसी एक विचारधारा या समाज-विज्ञान की किसी एक पीठ का प्रवक्ता नहीं है। उसके वैचारिक वितान का बुनियादी मूल्य इस उदारतावादी यक़ीन से अनुप्राणित है कि विचारों की दुनिया में किसी क़िस्म की पहरेदारी नहीं होनी चाहिए।
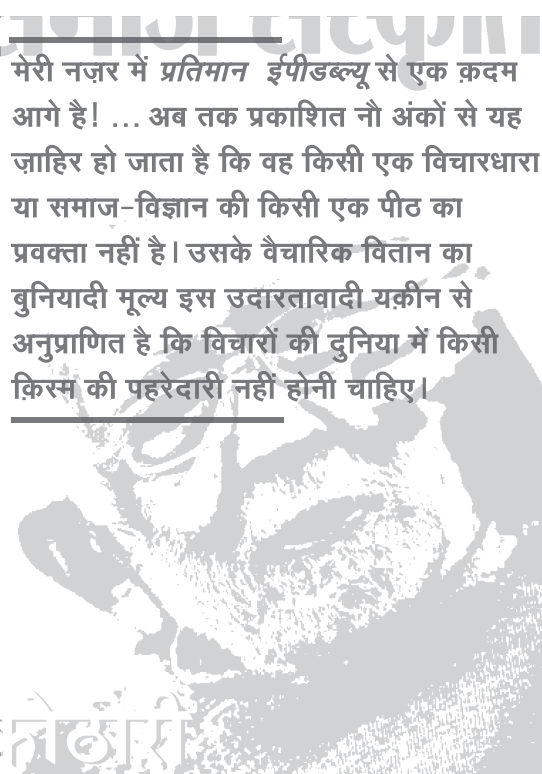
भारतीयता एक भाषा-एक राष्ट्र-एक धर्म के बहुसंख्यकतावादी नारे का प्रतिकार करती है। *प्रतिमान* का शायद ही कोई अंक ऐसा होता हो जिसमें भारतीय परम्परा के किसी उजले या कम उजले पक्ष पर विचार न किया जाता हो। मसलन, राधावल्लभ त्रिपाठी के लेख से मुझे पहली बार पता चला कि प्रेम, वासना, कामना और बिछोह जैसी मानवीय भावनाओं के विषय में वात्स्यायन के पूर्ववर्ती चिंतक क्या विचार रखते थे। यह उल्लेखनीय है कि त्रिपाठीजी अपने विमर्श में व्यर्थ का हल्ला न करके हमेशा तथ्यपरक रहते हैं। वे वेंडी डोनिगर और सुधीर कक्कड़ के भाष्य से सहमत न होने के बावजूद उनका तिरस्कार नहीं करते। इस मायने में त्रिपाठीजी एक संवाद-प्रिय विद्वान हैं।

लेकिन इन ख़ूबियों के बावजूद मुझे यह देखकर कोफ़्त होती है कि *प्रतिमान* की मौजूदगी का दायरा ख़ासा सीमित है। यह टिप्पणी लिखते समय मैंने दिल्ली में पढ़ाई-लिखाई करने वाले पाँच अकादमिक विद्वानों से बात की। ये पाँचों लोग हिंदी-पट्टी के प्रमुख केंद्रीय/ प्रांतीय विश्वविद्यालयों में अध्यापन करते हैं। अफ़सोस की बात है कि इनमें केवल एक अध्यापक ही *प्रतिमान* का नियमित पाठक कहा जा सकता है, जबकि दूसरे अध्यापक ने यह जर्नल केवल एक बार देखा है। शेष दो लोगों का कहना था कि बड़े शहरों के बाहर विश्वविद्यालयों का एक व्यापक नेटवर्क मौजूद है जहाँ *प्रतिमान* अपनी मौजूदगी दर्ज कर सकता है, लेकिन उन्हें लगता है कि इस दिशा में पर्याप्त प्रयास नहीं किये जा रहे हैं। जैसा कि मित्र की राय है, इसका ख़तरा यह है कि *प्रतिमान* हिंदी के अभिजनों के बीच तो चर्चा का विषय बना रहेगा लेकिन अपने लिए नये पाठक और प्रतिभाएँ नहीं जुटा सकेगा।

3 व्यवस्था-निरपेक्ष चिंतन बनाम मगध की मौलिकता

सुधा चौधरी

श्रम पर सवार पूँजीवादी तंत्र में जहाँ सामाजिक-मानविकीय मुद्दों पर आधारित विमर्श की ज़रूरत तिरोहित कर देने के लिए हर क़िस्म की क़वायद चल रही है, वहाँ *प्रतिमान* जैसी शोध-पत्रिका की महत्ता महसूस करना, उसे मूर्तरूप देना, उसकी गुणात्मक प्रतिबद्धता बनाए रख कर निरंतरता प्रदान करना एक बड़ी चुनौती है। इसे स्वीकार करते हुए प्रधान सम्पादक अभय कुमार दुबे, उनके सम्पादन-मण्डल और सम्पादकीय सलाहकारों ने यह दिखा दिया है कि बेहतर इंसानी समाज के निर्माण की अपार सम्भावनाओं की सैद्धांतिक स्पष्टता का रास्ता मानव समाज केंद्रित विमर्श से होकर ही जाता है : *प्रतिमान* इस सृजनशील समाज-दृष्टि का ही मूर्त रूप है। इसके लिए प्रयासरत विद्वत्जन बधाई के पात्र हैं।

पिछले पाँच वर्षों में *प्रतिमान* में प्रकाशित आलेखों की गम्भीरता, उनकी विषय-वस्तु एवं विचार-दृष्टि ने हिंदी जगत के पाठकों के वैचारिक-वृत्त को बहुत समृद्ध किया है। एक ही स्थान पर इतनी उच्च कोटि की अध्ययन सामग्री प्राप्त होना हिंदी में लिखने-पढ़ने वाले पाठकों के लिए अनुसंधानपरक सामग्री की कमी को पूरा किया है। इसकी ज़रूरत वर्षों से महसूस की जा रही थी : आलेख-सामग्री की विविधता, व्यापकता और स्तरीय आलेखों का प्रकाशन पत्रिका की अनूठी पहल है। लेखकगण व सम्पादक-मण्डल पूरी सजगता के साथ इस बिंदु को केंद्र में रखते हैं कि किसी भी समाज की सामाजिक-चेतना का उत्स और उसकी सैद्धांतिक दुनिया की जड़ें उस समाज की मानवकेंद्रित रचनाधर्मिता से ही नालबद्ध रहती हैं।

समाज-चिंतन की दुनिया में चलने वाली सैद्धांतिक बहसों को समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श के केंद्र में ले आना पत्रिका की विशिष्ट देन है। *प्रतिमान* में प्रकाशित स्वराज, सभ्यताओं की विविधता, पूर्व-पाश्चात्य जगत की वैचारिक द्वंद्वात्मकता आधारित लेख अहम हैं। स्वराज पर बहस गाँधी के *हिंद स्वराज* से शुरू होकर कृष्णचंद्र भट्टाचार्य के 'विचारों में स्वराज'; और अम्बिकादत्त शर्मा के आलेख *हिंद स्वराज* और *कम्युनिस्ट घोषणापत्र* भारतीय सामाजिक मनोयोग को समझने की बुनियादी दृष्टि देते हैं। आलेखों की यह दृष्टि, हमारे देश का चिंतन यूरोपीय चिंतन का व्युत्पन्नात्मक रूप है, जैसे सोच की मुख़ालिफ़त करती है। इसी संदर्भ में राजीव मल्होत्रा के बहाने वैश्विक सभ्यताओं की मूलगामी भिन्नताओं के स्रोतों को देखने की कोशिश हुई है।

प्रतिमान के विभिन्न अंकों की स्तम्भ-संरचना विचार-दृष्टि खोल देने वाली है : समस्या, सामयिकी, संधान, अनुशासन, प्राश्निक, दस्तावेज़, समीक्षा-संवाद, साक्षात्कार, पुस्तक-समीक्षा; और सामाजिक लोकतंत्र, हिंदुत्व, संस्कृति, आधुनिकता पर संवाद संबंधी लेख-शृंखला विचारोत्तेजक है। यह हमारे वर्तमान पर छायी अवसादी वैचारिकी को भेदने का इतिहास-बोध देती है। स्तम्भों के ज़रिये सामूहिक व सैद्धांतिक मुद्दों पर गम्भीर चिंतन कर अतीत का वर्तमान और वर्तमान के भविष्य को समझने की सूत्रात्मक दृष्टि देना पत्रिका की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। मुख्य बात समीक्षात्मक आलेखों के माध्यम से भारतीय आधुनिकता के विभिन्न रूपों की तलाश करने की ईमानदार कोशिश है : क्या पश्चिमपरस्त आधुनिकता की परिभाषा से हमारा मौलिक पार्थक्य है? भारतीय आधुनिकता को गढ़ने की रूपरेखा क्या हो सकती है? उसकी प्रस्थान-दृष्टि क्या अपनाई जाए?, आधुनिकता का कौन सा मॉडल भारतीय समाज-विचार संदर्भों का सही प्रतिबिम्बन हो सकता है? इस तरह के प्रश्नों पर प्रकाशित विमर्श हमारी सोच को व्यापक फ़लक प्रदान करता है। दर्शन, इतिहास और कला संबंधी लेखकों की भाव-दृष्टि दिखाती है कि किसी भी प्रकार के सामाजिक बदलाव में वैचारिक विरासत की भूमिका को कमतर समझ कर पृष्ठभूमि में धकेलना उसकी ओजस्विता को निस्तेज कर देना होगा। विचार से उत्सर्जित ऊर्जा ही सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का पथ-प्रदर्शक होती है।

प्रतिमान के संस्कृति, धर्म, आर्थिकी, राजनीति की विहंगम समझ बनाने के सकारात्मक प्रयासों ने सामाजिक एवं मानविकीय विषयों को परस्पर अलगाने की वर्तमान की कोशिशों को ख़ारिज किया है। आलेखों की समृद्धि इस बात को दर्शाने में है कि मानव के सामाजिक व वैयक्तिक जीवन के बीच द्वंद्वात्मक रिश्ता रहता है। हमारे जीवन के इन दोनों पहलुओं को सापेक्षिक दृष्टि से ही समझा जा सकता है। आलेखों में विद्यमान अंतर-अनुशासनात्मक दृष्टि वर्तमान में चल रही सामाजिक एवं मानविकीय विषयों के अध्ययन की पद्धतिमूलक बहस को नये सिरे से देखने की समझदारी देती है। इस संदर्भ में *प्रतिमान* की पहल के रेखांकित करने वाले पक्ष उसके ज्ञानमीमांसीय सरोकार हैं। व्यक्ति और समाज के द्वंद्वात्मक संबंधों को समझने की हमारे पास कौन सी माक़ूल पद्धतियाँ हैं? इस संबंध में ऐतिहासिक रूप से तत्त्वमीमांसीय बनाम द्वंद्वात्मक, आत्मनिष्ठ बनाम वस्तुनिष्ठ पद्धतियों के बीच तीखी बहस रही है जिसे पद्धतिमूलक लेखों में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भारतीय नारीवाद संबंधी आलेखों की मूल समझ बहुत ही परिपक्व

पत्रिका को महज पाठक की बौद्धिक खुराक का स्रोत बना देना दरअसल उसकी दीर्घकालीन सामाजिक प्रासंगिकता खो देने जैसा है। पत्रिका में शुरू की गयी बहसों-संवादों और प्रश्नों की सार्थकता तभी है जब उनसे निकलने वाली विचार-दृष्टि दिशा-बोधकता का पर्याय बने (क्या करें, किधर जाएँ के प्रश्नों के उत्तर का संकेत भी दे)।

है जिन्होंने ऐतिहासिक तार्किकता के साथ इस बात को नकारा है कि नारीवाद एक आयातित अवधारणा है।

लेकिन, किसी भी पत्रिका को महज़ पाठक की बौद्धिक खुराक का स्रोत बना देना दरअसल उसकी दीर्घकालीन सामाजिक प्रासंगिकता खो देने जैसा है। पत्रिका में शुरू की गयी बहसों–संवादों और प्रश्नों की सार्थकता तभी है जब उनसे निकलने वाली विचार–दृष्टि दिशा–बोधकता का पर्याय बने (क्या करें, किधर जाएँ के प्रश्नों के उत्तर का संकेत भी दे)। क्योंकि, सभ्यता और संस्कृति के विकास का इतिहास सिखाता है कि मनुष्य का प्रयोजन महज़ संकल्पनाओं को समझना या उनके साथ बौद्धिक कुश्ती करना भर नहीं है। इससे इतर उसका प्रयोजन इन संवादों से निकली दृष्टि को आत्मसात् कर अपनी आकांक्षित दुनिया के निर्माण में उसका सैद्धांतिक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल करना भी है। अन्यथा लेखन के 'बोला बहुत, कहा क्या' की वैचारिक सीमाबद्धता के दलदल में फँस जाने का ख़तरा बढ़ जाता है। इसके चलते परिवर्तनवादी दिखने वाले प्रयास भी यथास्थितिवाद के पोषक बन जाते हैं। विवेक पर अघोषित आपातकाल के इस दौर में इस सजगता की दरकार और बढ़ गयी है।

पत्रिका जिन समसामयिक समस्याओं को विमर्श के केंद्र लाई है उनसे रूबरू होने के लिए लेखकों की विश्लेषणात्मक दृष्टि ही *प्रतिमान* की सामाजिक इयता को नहीं साधती है। संश्लेषणात्मक दृष्टि की प्राथमिकता के साथ ही सामाजिक रूपांतरण की सैद्धांतिकी को ठोस आधार प्रदान किया जा सकता है। इसके ज़रिये ही विचारों में स्वराज से समाज में स्वराज की यात्रा की सत्तात्मक भौतिकी को ज़मीन पर खड़ा किया जा सकता है। इसके लिए *प्रतिमान* प्रतिबद्ध दिखाई देता है। विचार–जगत कोई स्वायत्त परिघटना नहीं है। उसकी जड़ें सामाजिक तंत्र में होती हैं जहाँ से विचारों को खाद–पानी मिलता है। सत्ता एवं सम्पति में जन की भागीदारी व हिस्सेदारी के सवालों से जोड़ कर ही स्वराज की संकल्पना पर अर्थपूर्ण गवेषणा की जा सकती है।

विचारों में स्वराज के लिए कृष्णचंद्र भट्टाचार्य राष्ट्रीय जीवन की बाह्य जकड़बंदी से मुक्ति की अपील करते हुए देशज शिक्षा–संस्कृति का सुझाव देते हैं, किंतु देशज विचारों की रोशनी है क्या, इसके बारे में पूरे आलेख में कहीं कोई चर्चा नहीं है। *हिंद स्वराज* आधारित लेखों की मूल दृष्टि पश्चिम से सावधान करती है किंतु विकल्प के रूप में जो अध्यात्म केंद्रित आत्मनिष्ठ समाधान देते हुए वे विद्यमान सत्ता–समीकरणों में बिना बदलाव किये सदिच्छा–सद्भावना से आदर्श समाज की स्थापना करना चाहते हैं। इस मानसिक अभ्यास से मैला ढोने वालों को हरिजन कह कर भाषाई सम्मान तो दिया जा सकता है, लेकिन सम्मानपूर्ण जीवन जीने के लिए, सत्ता व सम्पति में भागीदारी व हिस्सेदारी के सवालों पर पुनर्विचार की ज़रूरत महसूस करने के फेर में ये लेख नहीं पड़ते। यही भारत की सामाजिक और राजनैतिक संकट की जड़ में है।

आज की पूँजीवादी व्यवस्था में श्रम और पूँजी के बीच का संघर्ष ठोस यथार्थ है। इससे निरपेक्ष मंथन फैंटेसी है। *हिंद स्वराज* में

आधुनिकता का कौन सा मॉडल भारतीय समाज–विचार संदर्भों का सही प्रतिबिम्बन हो सकता है? ... दर्शन, इतिहास और कला संबंधी लेखकों की भाव–दृष्टि दिखाती है कि किसी भी प्रकार के सामाजिक बदलाव में वैचारिक विरासत की भूमिका को कमतर समझ कर पृष्ठभूमि में धकेलना उसकी ओजस्विता को निस्तेज कर देना होगा।

तकनीकी आधारित शिक्षा से परहेज़ वस्तुतः विज्ञान से परहेज़ की अपील है जिसका विकल्प गाँधी मन-इंद्रियों को वश में लाकर, स्वयं को पहचान कर, साधन, साधक और साध्य की शुद्धि के सुझाव के रूप में देते हैं। लेकिन, इसका व्यावहारिक रूप एकलव्य और शम्बूक का शैक्षिक-बहिष्कार है। इसलिए, हर अप्रिय स्थिति के लिए पश्चिम के प्रभाव को ज़िम्मेदार ठहराना, अपने समाज की वर्ग-जाति-सत्तात्मक कुरूपताओं से ईमानदार मुठभेड़ से बचना है।

नारीवाद पर विजय कुमार झा का लेख सत्ता-संरचनाओं के अंतर्संबंधों को रेखांकित करने का दिशा-बोधक सराहनीय प्रयास है। द्विज

धर्म को जीवन-शैली बताने वालों को न केवल गुजरात का नरसंहार परेशान नहीं करता, अपितु हिंदुत्व के पैरोकार भी वे ही बनते हैं। ... विज्ञानाधारित शोधपरक आलेखों की महत्त्वपूर्ण रूप से कमी है जिसे चिह्नित कर पूरा करना आज के सामाजिक और मानविकीय शोध में अनुसंधान पद्धति को ले कर चल रही बहस को काया प्रदान करना है।

वर्चस्व आधारित समाज में पाश्चात्य जीवन-शैली में रहने और उसे अभिशप्तजन को हीनतर होने का अहसास करवाने का साधन बना देने के अपने फ़ायदे हैं। इसलिए आज़ादी के सत्तर साल बाद भी यदि औपनिवेशिक मानसिकता कम होने की बजाय और सघन होती जा रही है तो इसके बीज- सूत्र हमारे सामाजिक तंत्र में ही तलाशने की आवश्यकता है। विचार-मानसिकता का अपना एक भौतिक आधार है। कौटिल्य स्त्रियों,अशक्त जनों तथा मासूम प्राणियों पर अत्याचार करनेवालों के लिए कठोर हैं, किंतु उनके साथ होने वाले व्यवस्थागत अन्याय, उत्पीड़न, वंचनाओं-वर्जनाओं को उनकी नियति मान कर सोच से ही बाहर कर देते हैं। वे जिस एकाधिकारवादी,चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के प्रबल समर्थक थे— आज लोकतंत्र के संकट के भ्रूण भी इसी एकाधिकारवादी तंत्र को विशुद्ध रूप में लागू करने की क़वायद में निहित हैं। इसे जनता बहुत पहले ही ख़ारिज कर चुकी है।

व्यवस्था-निरपेक्ष मनोवादी बहस पाठक को उत्तेजित तो करती है, लेकिन प्रतिकूलताओं से निकलने का पथ-प्रदर्शक बनने की क्षमता खो बैठती है। भारतीय आधुनिकता, स्वराज, धर्म बनाम रिलीजन का प्रश्न, आत्मनिष्ठता-वस्तुनिष्ठता की ज्ञानात्मक बहस, नारीवाद का भारतीय संस्करण, दलित अस्मिता के सवाल, सांस्कृतिक चेतना का वैशिष्ट्य इत्यादि पर विमर्श वस्तुतः व्यवस्थागत विमर्श है जिसके केंद्र में भारतीय समाज का बुनियादी द्विज-शूद्र आधारित जाति-वर्गीय ढाँचा आज भी मजबूती से खड़ा है। प्रकाशित आलेखों की मूल भावना इस दृष्टि को ओझल करती है। धर्म बनाम रिलीजन की बहस इसे बनाए रखने के लिए उर्वरा-भूमि तैयार करती है जो बहस को धर्म के तत्त्वमीमांसीय दार्शनिक आधारों से विमुख कर भाषायी मकड़जाल में फँसा कर बहस को भटका देती है और उसकी सामाजिक कुरूपताओं को निरापद बना देती है। यह अकारण नहीं है कि धर्म को जीवन-शैली बताने वालों को न केवल गुजरात का नरसंहार परेशान नहीं करता, अपितु हिंदुत्व के पैरोकार भी वे ही बनते हैं।

पत्रिका में वैज्ञानिक समझदारी को बढ़ाने वाले विज्ञानाधारित शोधपरक आलेखों की महत्त्वपूर्ण रूप से कमी है जिसे चिह्नित कर पूरा करना आज के सामाजिक और मानविकीय शोध में अनुसंधान पद्धति को ले कर चल रही बहस को काया प्रदान करना है।

आशा है *प्रतिमान* में 'किधर और कैसे जाएँ' की दृष्टि देने वाले सोचपरक लेखों को महत्त्वपूर्ण रूप से रेखांकित कर आगामी अंकों में स्थान मिलेगा। हमारे सामाजिक व वैचारिक जीवन में विद्यमान द्वंद्वात्मक रिश्तों को समग्रता में समझने से निकलने वाली बौद्धिक-ऊर्जा ही सामाजिक बदलाव की जद्दोजहद का मार्गदर्शन करेगी। मगध की मौलिकता का रास्ता इधर से ही जाता है।

4 ज्ञानार्जन के विषम प्रश्न

हरीश त्रिवेदी

इस पत्रिका के पिछले पाँच वर्षों में नौ अंक छप चुके हैं और अब दसवाँ आ रहा है। इससे उन सभी को प्रसन्नता होगी जो इस पत्रिका को शुरू से ही देखते-पढ़ते रहे हैं। वैसे *प्रतिमान* को 'पत्रिका' कहना इसकी अवमानना करने जैसा लगता है। बाक़ी तो सब नदियाँ हैं पर जैसे सिंधु और ब्रह्मपुत्र नद कहलाते हैं वैसे ही इसका हर एक अंक पत्रिका नहीं बल्कि पत्रिका का बाप लगता है (जानता हूँ कि यहाँ इस रूपक को भी पितृसत्तात्मक क़रार दिये जाने का अंदेशा है— 'बात करते जुबान कटती है')। पर इसको 'पत्र' कहने पर इसकी इज़्ज़त और घट सकती है। तो यह मुद्दा रहने ही दिया जाय। वैसे *प्रतिमान* नाम ही पुल्लिंग है और तत्सम होने से भव्य भी है जो इसके आकार-प्रकार और साज-सज्जा से मेल खाता है।

इस छोटे-से पहले पैरा को दुबारा पढ़ते ही मुझे लगा कि इसमें अनायास ही वे कई बातें आ गयी हैं जो मुझे कहनी थीं। *प्रतिमान* का हर अंक कलेवर में सामान्य पुस्तक से भी दुगुना क्यों होता है? जब भी कोई नया अंक आता है तो मेरी पहली प्रतिक्रिया क्या होती है? यही कि पाँच-दस मिनट उलट-पलट कर रख देता हूँ कि जब समय मिलेगा तो विधिवत् ध्यानपूर्वक पढ़ूँगा। वह समय कब मिलता है— यह हम सभी जानते हैं। जिनकी आदत हो मन को समझाने की कि छोटे-मोटे सभी काम पहले पूरे कर लें, तब बड़े में हाथ लगाएँगे, जिससे बड़ा काम टलता ही रहता है। याद आता है कि सम्पादकीय सलाहकार मण्डल की पिछली मीटिंग में यह मुद्दा उठा भी था। यह भी सुझाया गया था कि *प्रतिमान* अगर साल में दो के बजाय तीन या चार बार छप सके तो शायद हर अंक थोड़ा कम स्थूल हो। इस पर यह बताया गया कि अभी हर अंक में इतना काम और समय लगता है कि अधिक अंक छापने के लिए और सुविधाएँ भी चाहिए होंगी, जो सही भी था। तो अब मेरा नया सुझाव यह है कि हर अंक केवल 200 (या 196) पृष्ठों तक सीमित रखा जाय जिससे शायद गुणवत्ता भी बढ़े। एक और सुझाव यह है कि 'संवाद' को छोड़ कर कोई भी लेख 8,000 शब्दों से अधिक का न हो। दुनिया की सभी पत्रिकाओं में इस तरह का प्रतिबंध रहता है।

दूसरा सवाल भाषा-शैली का है। यह विडम्बना सभी भाषाओं में रही है कि जन-साधारण और जनतंत्र के मूल्यों के बारे में बात जनता की भाषा में नहीं की जातीं। समाजशास्त्रीय विमर्श में ही नहीं, साहित्य में भी अधिकतर ऐसा ही होता आया है। सत्तर के दशक (या 1968 में देरिदा के अंग्रेज़ी में उदय के बाद) तो यह समस्या लाइलाज हो गयी लगती है। होमी भाभा ने एक बार सफ़ाई दी थी कि जो वे सोचते हैं वही इतना नया और दुरूह है कि भाषा तो अपरिचित और दुरूह होगी ही। यह तर्क बहुत पुराना है और इसका उत्तर यह है कि फिर अच्छी तरह मनन और मंथन करने के बाद और थोथा उड़ा देने के बाद ही लिखना शुरू करना चाहिए।

एक और बाधा है कि हिंदी में अनेक प्रकार की नयी शब्दावली गढ़ने के जो शुरू-शुरू में प्रयत्न हुए उनका इतना मज़ाक उड़ा, कुछ वास्तविक अथवा कल्पित उदाहरणों को दोहरा-दोहरा कर, कि वह तथाकथित रघुवीरी हिंदी अग्राह्य क्या अस्पृश्य ही हो गयी। तब नेहरू प्रधानमंत्री थे जो हिंदुस्तानी ही जानते थे, हिंदी नहीं। अब भी हिंदी-उर्दू को मिला कर ऊँचे विमर्श की नयी भाषा गढ़ने के प्रयत्न होते रहते हैं जो 'सेकुलर' होने के कारण अधिक सराहनीय लगते हैं। पर यह भी लगता है कि ऐसी नयी भाषा की बेल या तो संस्कृत के वटवृक्ष पर चढ़ कर पल्लवित होगी या फ़ारसी की वैसी ही बड़ी शब्द-सम्पदा की ओर रुख़ करेगी, क्योंकि एक न एक शास्त्रीय भाषा का आश्रय तो समाज-

विज्ञान और साहित्य को लेना ही होगा। यह तो प्रेमचंद भी मानते थे कि दोनों घोड़ों पर एक साथ सवारी नहीं हो सकती, और उन्हीं के रूपक में हंसों की पंक्ति के बीच में कौवा बैठाना अटपटा लगेगा।

एक और तरह का अटपटापन तब आता है जब हिंदी में ही लिखे मौलिक लेख में भी यदा-कदा अंग्रेज़ी से किये गये अनुवाद की सी ध्वनि आती है। इसे रमेश चंद्र शाह ने 'अनुवाद की संस्कृति' कहा है। हम चाहें तो इसे विमर्श की भाषा का 'छायावाद' भी कह सकते हैं, क्योंकि जगह-जगह हमारी बौद्धिक पदावली अंग्रेज़ी शब्दों की छैयाँ-छैयाँ चलती दिखती है। यही हाल वाक्य-विन्यास का भी है। यह हमारा पिछले दो सौ वर्षों का इतिहास है जिसका केवल भाषा पर ही नहीं ,बल्कि हमारी पूरी चिंतन-प्रक्रिया पर गहरी छाप पड़ी है। *प्रतिमान* का हर अंक पढ़ते समय लगभग हर पृष्ठ पर ही इससे समक्षता होती है और साथ ही इससे निपटने की युक्तियों का संधान भी होता दिखता है। मुझे तो लगता है कि अज्ञेय और रघुवीर सहाय के *दिनमान* के बाद हमारा *प्रतिमान* ही है जो सजग रूप से इस मूल प्रश्न का समाधान ढूँढ़ने में लगा हुआ है। निम्न वर्ग के उच्च विमर्श की हिंदी धीरे-धीरे सतत प्रयोग से ही बनेगी— और प्रयोग दोनों अर्थों में, यानी नये आविष्कार की चेष्टा भी और अभ्यास भी। *दिनमान* से लेकर *प्रतिमान* तक बौद्धिक विमर्श की हिंदी किस तरह से पल्लवित और विकसित हुई है यह अपने आप में एकाधिक शोध-ग्रंथों का विषय हो सकता है। *प्रतिमान* के अनेक लेखकों और अनुवादकों ने इस बारे में बड़ा योगदान किया है जिनमें अभय कुमार दुबे, राकेश पाण्डेय, रविकान्त और नरेश गोस्वामी का सादर उल्लेख करना आवश्यक लगता है।

प्रतिमान का एक और प्रकार का योगदान प्रशंसनीय है जो हमारे बदलते बहुविषयक विमर्श के अनुकूल है। वह है समाजशास्त्र और साहित्य को आस-पास लाना, अगल-बगल खड़ा करना और हो सके तो उनके बीच किंचित व्यभिचारी भाव उद्दीप्त करना जिससे न केवल एक का प्रकाश और ऊर्जा दूसरे को मिल सके बल्कि उनके संसर्ग से हमारी कुछ नये प्रकार की ही समझ पैदा हो। पिछले अंक में छपा बलराम शुक्ल का *पंचतंत्र* और रूमी पर लेख इसका अच्छा उदाहरण है। साहित्य और समाजशास्त्र का भेद तो अभी नया-नया जन्मा है, जैसे कि अपने देखते-देखते इतिहास का विषय, जो दिल्ली विश्वविद्यालय के कला संकाय में हुआ करता था (और कई जगह अब भी है, अमेरिका तक में) छिटक कर समाज-विज्ञान संकाय के पाले में शामिल हो गया, ताकि कुछ अधिक वैज्ञानिक दिखने लगे। *प्रतिमान* के हर एक अंक में एक-दो लेख ऐसे अवश्य होते हैं जो याद दिलाते हैं कि हमारे यहाँ जिसे सबसे पहले इतिहास कहा गया वह संसार का सबसे बड़ा महाकाव्य था और जब कल्हण आदि द्वारा

हर अंक में एक-दो लेख ऐसे अवश्य होते हैं जो याद दिलाते हैं कि हमारे यहाँ जिसे सबसे पहले इतिहास कहा गया वह संसार का सबसे बड़ा महाकाव्य था और जब कल्हण आदि द्वारा इतिहास लिखा गया तो वह भी छंदोबद्ध काव्य-नुमा। शायद इतिहास पर सहज प्रतीति तभी होती है जब वह काव्य की तरह रसात्मक हो।

इतिहास लिखा गया तो वह भी छंदोबद्ध काव्य-नुमा। शायद इतिहास पर सहज प्रतीति तभी होती है जब वह काव्य की तरह रसात्मक हो (या उत्तर-आधुनिक मुहावरे में कहें तो आख्यान का मज़ा दे)। और, काव्य यदि कोरी कल्पना ही लगे तो भी उसमें समकालीन समाज का प्रतिबिम्ब तो आता ही है।

मेरी जानकारी में पूरे हिंदी जगत में सिर्फ *प्रतिमान* ही कथ्य और भाषा दोनों से जुड़े और धीर-गम्भीर ज्ञानार्जन के लिए आवश्यक इन विषम प्रश्नों को भाँति-भाँति से उठाता रहता है और हमारे व्यापक विमर्श को समृद्ध करता चलता है। हमारा सौभाग्य है कि ऐसी 'पत्रिका' हमारे बीच है और उसे ऐसे संस्थानीय साधन और सुविधाएँ उपलब्ध हैं कि वह व्यवसायिक चिंताओं से दबे या त्रस्त हुए बिना अपना अलग रास्ता बनाते हुए चल सकती है। इस संदर्भ में यह पत्रिका जो भी करती रहेगी वह निश्चय ही पूरे हिंदी जगत में नये मानक उपस्थित करेगा और हिंदी-विमर्श में नयी राह बनाएगा, जैसा कि हो भी रहा है ... अगले अंकों की प्रतीक्षा रहेगी।

5 भाषा-शैली पर कुछ बातें

संत समीर

संरचनात्मक समग्रता के लिए अनिवार्य तमाम अंतर्संबंधों के बावजूद हर शास्त्र का अपना अलग मिज़ाज होता है। उसी हिसाब से उसे एक ऐसी भाषा-शैली चाहिए होती है जिसमें उसकी आभा अधिकतम प्रभावी रूप में प्रकट हो सके। तभी वह शास्त्र सही मायने में सम्प्रेष्य भी बन पाता है। इस संदर्भ में राजकाज की व्यवस्थागत स्वायत्तता हासिल करने के बाद अंग्रेज़ी और अंग्रेज़ियत के लम्बे दौर से बाहर निकलने की कसमसाहट एक विशिष्ट तत्त्व है, जिसके गर्भ से नये भारत की निर्माण-प्रक्रिया शुरू होती है और इस प्रक्रिया से उसकी आधुनिक ज़रूरतों के नये शास्त्रों के रचना-पराक्रम की भावभूमि बनती है। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित, साहित्य, समाजशास्त्र जैसे अन्यान्य विषयों को हिंदी में तैयार करने के सरकारी और व्यक्तिगत प्रयत्नों की एक व्यापक श्रृंखला पूरे देश में दिखाई देती है।

इस तरह कई मोर्चों पर ज़रूरी पाठ्य-सामग्री का प्रभूत भण्डार तैयार हुआ, तो अपने यहाँ पहले से मौजूद विरासत को भी सहेजने में कुछ सफलता मिली। इस पूरे पराक्रम में विद्यालयी पाठ्यक्रमों की ज़रूरतों को देखते हुए आपाधापी इतनी रही कि कई ज़रूरी चीज़ें छूटती-सी गयीं या उन्हें जानबूझ कर आने वाली पीढ़ियों के लिए बक़ाया काम के तौर पर भविष्य के खाते में डाल दिया गया। प्रस्थापनाओं की भावभूमि विदेशी बनी रही तो हिंदी में हुए इफ़रात अनुवाद की गुणवत्ता में भी देशी सहजता उतनी पैदा नहीं हो पाई जितनी कि ज़रूरत थी। देश जिस परिवेश से बाहर निकल रहा था, उसमें यह लाज़िम था, लेकिन दिक़्क़त यह हुई कि जैसे-तैसे कुछ हासिल कर लेने की जल्दी में हमारे बुद्धिजीवियों और रचनाकर्मियों को भारतीय संदर्भों को बिसराते रहने की जैसे स्थायी आदत ही बनती गयी। अभिव्यक्ति-माध्यम के पैमाने पर देखें तो हिंदी साहित्य को ज़रूर इस आरोप से काफ़ी हद तक बरी किया जा सकता है। भाषा-शैली के स्तर पर हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाएँ काफ़ी समृद्ध हुई हैं। हिंदी की भाषिक संरचना की समृद्धि में आज़ादी से पहले और बाद के कुछ दशकों के साहित्यसेवियों की भूमिका निश्चित रूप से विशिष्ट है। उलटे, इस मामले में विडम्बनापूर्ण तो यह है कि आज की तारीख़ में हिंदी साहित्य में भाषाई समृद्धि के उपक्रम कमज़ोर पड़ते दिखाई दे रहे हैं और कई बार बचकाने ज्ञान-अज्ञान तक को सरलीकरण का नाम देकर भाषा-समृद्धि के पुरुषार्थ दिखाए जा रहे हैं। समाज-अध्ययन का संदर्भ लें तो भाषा के

मोर्चे पर प्रयत्न और भी कमज़ोर रहे हैं। संगठित प्रयत्नों में पश्चिम के प्रति परमुखापेक्षिता और दुर्बोध अनुवाद कर्म से गुज़रना हिंदी पाठकों की नियति रही है।

प्रतिमान का काम इसीलिए महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि समाज अध्ययन शोध पीठ की इस पत्रिका ने भाषा-शैली के स्तर पर कुछ रूढ़ दायरों को तोड़ा है। उपर्युक्त संदर्भों में हिंदीसेवी और हिंदी के पाठक अच्छा महसूस कर सकते हैं कि *प्रतिमान* का लहज़ा कुछ मायनों में सचमुच एक ऐसा *प्रतिमान* स्थापित करता हुआ दिखाई देता है, जिसमें एक ज़रूरी अनुशासन के साथ ही भरपूर खुलापन है। प्रवेशांक की भूमिका से इसके मंतव्य और गंतव्य, दोनों की बेहतर शिनाख़्त की जा सकती है। ये पंक्तियाँ पढ़िए, 'पिछले कुछ वर्षों में अध्ययन पीठ में अंग्रेज़ी के साथ-साथ हिंदी में भी लेखन करने वाले विद्वानों की संख्या बढ़ी है। साथ ही भारतीय भाषा कार्यक्रम के इर्द-गिर्द कुछ युवा और सम्भावनापूर्ण अनुसंधानकर्ता भी जमा हुए हैं। *प्रतिमान* का मक़सद इस जमात की ज़रूरतें पूरी करते हुए हिंदी की विशाल मुफ़स्सिल दुनिया में फैले हुए अनगिनत शोधकर्त्ताओं तक पहुँचना है। समाज-चिंतन की दुनिया में चलने वाली सैद्धांतिक बहसों और समसामयिक राजनीतिक-सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्श का केंद्र बनने के अलावा यह मंच अन्य भारतीय भाषाओं की बौद्धिकता के साथ जुड़ने के हर मौक़े का लाभ उठाने की फ़िराक़ में भी रहेगा।'

इन कुछ वाक्यों को भाषिक संरचना की दृष्टि से देखें तो साफ़ संकेत निकल रहा है कि *प्रतिमान* भाषा-शैली के स्तर पर गाँधी की हिंदुस्तानी, आधुनिक हिंदी की मानकता और सम्प्रेषण के लिए ज़रूरी नये प्रयोगों के विस्तार तक एक मज़बूत सेतु-निर्माण का आकांक्षी है। विभिन्न अंकों में प्रकाशित 'ज्ञान की सामाजिक उपयोगिता और *मुर्दहिया*', 'सियासत के अधूरे अफ़साने : मण्टो की दो कहानियाँ', 'आधुनिकता और चण्डीगढ़ का तिलिस्म', 'हमारे अपने पुनर्जागरण पुरुष', 'ऐसी कुगति भई वात्स्यायन की', 'क्या चिंतन का कोई भारतीय तरीक़ा है' जैसे तमाम लेखों को पढ़कर समझा जा सकता है कि अलग-अलग धरातल की चिंतना को *प्रतिमान* ने मज़बूत एकसूत्रता में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। समाज-अध्ययन की चलती चली आयी बोझिलता के बरअक्स शैलीगत सहजता को *प्रतिमान* की यह प्रस्तुति किस हद तक साध सकी है, यह भविष्य की इसकी प्रस्तुतियों के मद्देनज़र भी समीक्ष्य बना रहेगा— पर महत्त्वपूर्ण यह है कि जब हम प्राय: हर मोर्चे के प्रस्थान-बिंदु पर मज़बूत दिखने वाली तमाम प्रस्तावनाओं को शिथिल होता हुआ देख रहे हैं तो इस पत्रिका का हर अगला अंक अपनी प्रारम्भिक उद्घोषणा को और मज़बूती देता हुआ दिखाई दे रहा है।

जब आप किसी शास्त्र के प्रचलित संस्कारों पर बिना तोड़-फोड़ मचाए कुछ अलग तरह के रचनाकर्म में रत होना चाहते हैं, तो कई अलग तरह की चुनौतियाँ भी उठ खड़ी होती हैं। रचनात्मक प्रवृत्तियों को संस्कारित करने के साथ-साथ बुद्धिजीवी लेखकों को भी उन्हीं की सामर्थ्य में संस्कारित करने की जुगत करनी होती है कि उनका अहं चोटिल न हो। बुद्धिजीवियों के अहं को सँभालने की बात इसलिए महत्त्वपूर्ण हो जाती है कि देश में जिन्हें मुख्यधारा की पत्रिकाएँ कहा जाता रहा है, अक्सर वे बड़े मीडिया घरानों की पूँजीकेंद्रित पत्रिकाएँ रही हैं। इनमें साहित्य की मौजूदगी की बात छोड़ दें तो अन्य ज़्यादातर सामग्री पाठक की सस्ती अभिरुचि को समर्पित रही है। समाज-अध्ययन में सहायक कुछ विषयों की गम्भीर प्रस्तुतियों में भी ये पत्रिकाएँ प्राय: उन पहलुओं को लक्ष्य में रखती रही हैं, जो पाठक की मनोरंजन-ग्रंथि को सहला सकें। इसके विपरीत, बिना किसी व्यवस्थित आयोजना के देश के कोने-कोने से निकल रही लघु पत्रिकाएँ समाज-अध्ययन की प्रवृत्तियों को ज़्यादा समृद्ध करती रही हैं। लेकिन इनके साथ परेशानी यह है कि इनका सम्पादन बहुत व्यवस्थित नहीं रहा है। इस कारण काम की सामग्री भी बेतरतीब ढंग से ही सामने आ

पाई है। इसी नाते कई बार ऐसी पत्र-पत्रिकाओं में मौजूद समाज-विज्ञान भाषाई उच्छृंखलता का शिकार दिखता है। बग़ैर व्यस्थित सम्पादन की प्रक्रिया से गुज़रे जो विचारवान लेखक निरंतर छपता रहता है, वह आसानी से आत्मभ्रम का शिकार भी हो जाता है और उसे सँभालते हुए उसकी प्रतिभा का दोहन आसान नहीं रह जाता। *प्रतिमान* ने बुद्धिजीवी लेखकों को भरपूर आज़ादी देते हुए भी उनमें आत्मानुशासन की एक ज़रूरी आदत विकसित हो सकने की बड़ी सम्भावना जगाई है। यह काम उस लिहाज़ से भी विशिष्ट हो जाता है, जबकि हम देख रहे हैं कि हमारे विश्वविद्यालयों के समाज-विज्ञान के शोधकार्य कटिंग-पेस्टिंग की प्रवृत्तियों के कुछ ज़्यादा ही शिकार हैं और इस नाते असहज और विशृंखलित भाषा-शैली से बहुत आगे नहीं बढ़ पाते।

एक ऐसी भाषा-शैली, जो बिना बोझिल बने मंतव्य का भार वहन कर सके, *प्रतिमान* के पन्नों में एक हद तक मौजूद है। यह पहले से मौजूद तमाम दायरों को सहभागी बनाते हुए भी उनके पार जा कर अपना नया और ज़्यादा लोकतांत्रिक दायरा बनाने के पराक्रम-पथ पर है। पूर्वनिर्धारित किसी ख़ास खाँचे में फ़िट होकर मुतमइन हो जाने की मंशा नहीं है, तो भाषा-शैली और प्रस्तुति के स्तर पर भी सम्भावनाओं का आसमान इसके सामने खुला हुआ है।

पराई चिंतन-भूमि से बाहर निकल कर भारतीय संदर्भों में जिस चिंतन-स्वराज पर आगे बढ़ने को *प्रतिमान* तत्पर है, उसे देखते हुए इतिहासकार धर्मपाल भी याद आये बिना नहीं रहते। 'भारतीय चित्त, मानस, काल' को समझने और उसे प्रस्तुत करने की उनकी अवधारणा को *प्रतिमान* सहेजती-सी लगती है। ज़ाहिर है, ऐसी प्रवृत्ति में भारतीय चिंतन-धाराओं और तमाम बोलियों-भाषाओं की भूमिका महत्त्वपूर्ण हो जाती है। यहाँ से वह ऊर्जा और दिशा, दोनों मिल सकती है, जो समाज विज्ञान और मानविकी के अध्ययन और चिंतन को भाषा-शैली और प्रस्तुति के स्तर पर खाँटी भारतीय ज़मीन पर ले जाकर खड़ा करने में मददगार होगी।

भाषा-संस्कार के मामले में *प्रतिमान* की गति के आगे कुछ अवरोधक हैं, जिन्हें पार करने में कुछ वक़्त और लग सकता है। हिंदी सहित देश की अन्य भाषाओं और उनकी तमाम बोलियों से काफ़ी मदद मिल सकती है। बोलियों के पास ऐसे शब्दों का अद्‌भुत भण्डार है, जो अंग्रेज़ी शब्दावली की अनिवार्यता का स्थानापन्न बन सकते हैं। खटिया, मचिया, गोड़री, भेली, भदेली जैसे सैकड़ों शब्द समाज-संस्कृति-परम्परा को बहुत गहरे तक व्यक्त करते हैं, पर कभी अकादमीय प्रस्तुतियों के अंग नहीं बन पाए। उल्टे हिंदी के विकास की बुनियाद रखने वाले ये शब्द नये दौर में अब विलुप्तप्राय हैं। कभी *जनसत्ता* अख़बार ने पत्रकारिता में ऐसे शब्दों के प्रयोग की शुरुआत की थी। इसे समाज-अध्ययन के क्षेत्र में सफलतापूर्वक आगे बढ़ाया जा सकता है। समाज-विज्ञान के हमारे ज़्यादातर विद्वान पश्चिमी तौर-तरीक़े में दीक्षित होकर आते रहे हैं तो उनसे एक हद से ज़्यादा उम्मीद नहीं की जा सकती,

अच्छा यह है कि पञ्चमाक्षर प्रयोग किये जाएँ तो उचित ढंग से हर कहीं किये जाएँ, अन्यथा एकरूपता की दृष्टि से सर्वत्र बिंदी ही लगाई जाए। एक वाक्य में एक जगह पाण्डेय में पञ्चमाक्षर और उसी वाक्य में दूसरी जगह पंडित में अनुस्वार की बिंदी का प्रयोग अटपटा तो है ही, वर्तनी विषयक अराजकता को भी बढ़ावा देता है।
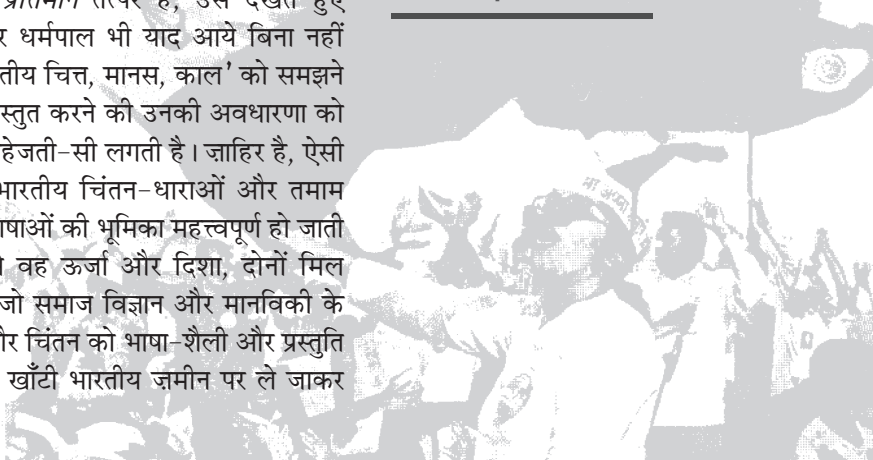
पर नयी पीढ़ी के शोधकर्त्ता और बुद्धिजीवी ज़रूर इस काम को बेहतर अंजाम तक ले जा सकते हैं।

अच्छी बात है कि *प्रतिमान* के पन्नों में ज़रूरी लगने पर सम्प्रदायवादी के साथ कम्युनल और समुदायवादी के साथ कम्युनेटेरियन लिखकर अंग्रेज़ी स्पष्टीकरण के साथ हिंदी-संस्कार को समृद्ध करने की कोशिश दिखाई देती है, पर बात और आगे बढ़ाने की ज़रूरत है। अगर लिखा जाता है कि 'फ्रांस के सेकुलरिज़्म के पीछे वहाँ की रिनेसाँ की पीठिका है', तो भाव की पकड़ भले मज़बूत हो, पर भाषा ज़मीन पर उतरने से इनकार कर रही है। 'एक-दूसरे के कोड्स को समझते थे' की तरह के कई वाक्यों में अनावश्यक अंग्रेज़ी, उसमें भी अंग्रेज़ी के ही व्याकरण के अनुसार बहुवचन-प्रयोग का मोह छोड़ने की ज़रूरत है। *प्रतिमान* के पन्ने पलटते हुए साफ़ देखा जा सकता है कि शब्दों के उच्चारण के प्रति एक ज़रूरी सावधानी हर कहीं मौजूद है। शब्द अंग्रेज़ी के हों, हिंदी, संस्कृत या उर्दू के— सबको ही उनके मूल उच्चारण के पास रखने की कोशिश की गयी है। नुक़्तों का प्रयोग काफ़ी दुरुस्त है।

व्याकरण के स्तर पर एक सचेत भाव है, पर वर्तनी के मामले में कुछ भूलें दिखाई दे सकती हैं। यह प्रकाशक की ओर से वर्तनी-संशोधन की दिक़्क़त लगती है। हिंदी के कई प्रकाशनों में पञ्चमाक्षरों का अर्धाक्षर या व्यंजन रूप प्रयोग करना हो तो ण, न, म के प्रयोग की परिपाटी रही है। और ञ को छोड़ दिया गया है। एक ज़माने में अंग्रेज़ी के ढर्रे पर बने टाइपराइटर की सुविधा को देखते हुए पञ्चमाक्षरों के स्थान पर हर कहीं अनुस्वार का बिंदु प्रयोग किये जाने की वकालत की गयी थी। बाद में कुछ प्रकाशकों ने देवनागरी की वैज्ञानिकता की रक्षा की दृष्टि से ं, ञ को छोड़कर बाक़ी के व्यंजन रूपों को लिखना शुरू कर दिया। *प्रतिमान* में आमतौर पर इनमें से सिर्फ़ ण और म का प्रयोग दिखता है, पर कई जगह कुछ चूक भी मिल जाती है। देवनागरी लिपि के हिसाब से देखा जाए तो प्रश्न है ही कि मण्डली, परम्परा, पाण्डेय, जेण्डर, इण्डिया, खण्डन, आम्बेडकर, भूमण्डलीकरण जैसे अनेक शब्दों में जब पञ्चमाक्षरों के अर्धाक्षर रूप प्रयोग किये गये हैं तो मंटो, चिंतन, ज़िंदगी, कंट्रोल, संकट जैसे अन्यान्य शब्दों में क्यों नहीं? पञ्चमाक्षरों के मामले में अनवधान का नतीजा अक्सर यह होता है संस्कृत उद्धरणों के साथ ज़्यादती हो जाती है। मसलन, 'तदवदातरूप करणायैववोदीयंते', 'शब्देन संज्ञाकरण व्यवहार्थ लोके' आदि में। वैसे अच्छा यह है कि पञ्चमाक्षर प्रयोग किये जाएँ तो उचित ढंग से हर कहीं किये जाएँ, अन्यथा एकरूपता की दृष्टि से सर्वत्र बिंदी ही लगाई जाए। एक वाक्य में एक जगह पाण्डेय में पञ्चमाक्षर और उसी वाक्य में दूसरी जगह पण्डित में अनुस्वार की बिंदी का प्रयोग अटपटा तो है ही, वर्तनी विषयक अराजकता को भी बढ़ावा देता है। देवनागरी की वैज्ञानिकता की दृष्टि से वर्णों का ध्वनि-विज्ञान देखें तो पञ्चमाक्षरों का यथास्थान प्रयोग अनुचित नहीं है। इसलिए भी कि अब टाइपराइटर की विवशता ख़त्म हो चुकी है और कम्प्यूटर के एक क्लिक से कुछ भी टाइप करना आसान हो गया है। इसके अलावा, देवनागरी लिपि का विकास अपने आप में ही समाज-अध्ययन का एक दिलचस्प विषय है, इस कारण से भी इसके वर्ण-विज्ञान पर ध्यान देना ज़रूरी हो जाता है। इसी तरह से क्रिया-पदों की वर्तनी पर भी किंचित बहस की गुंजाइश है।

ख़ैर, *प्रतिमान* के पूरे कलेवर में भाषा की वर्तनी उतना बड़ा मुद्दा नहीं है, जितना कि समाज-विज्ञान के संदर्भ में भारतीय परिवेश और लोकमानस के साथ समरस होकर ज़मीनी भाषा-संस्कार की चुनौती। बड़ी बात यह है कि इसी सचेत-भाव से *प्रतिमान* की शुरुआत ही हुई थी। समाज-विज्ञान की चिंतनधारा को अंग्रेज़ियत की मानसिकता से बाहर निकाल कर भारतीय भाषाओं के सामर्थ्य से जोड़ने का *प्रतिमान* का उद्यम फलीभूत होता हुआ दिख भी रहा है। यह काम भविष्य के लिए मील का पत्थर साबित होगा, उम्मीद की जा सकती है।